कला, शिक्षा एवं नागरिकता

त्रिपुरारी शर्मा

यह व्याख्यान शिक्षा में विशेषज्ञता पर दिए जाने वाले अतिशय जोर को प्रश्नित करता है। साथ ही समग्रता में शिक्षा की पैरवी करता है। व्याख्यान में कला, शिक्षा और नागरिकता के संबंध को समझने का प्रयास किया गया है।

इस व्याख्यान का आयोजन सुश्री हेमलता प्रभू (प्रेम से मिस प्रभू) के मित्रों, विद्यार्थियों और पीयूसीएल, राजस्थान के द्वारा किया गया था।

आप सभी को मेरा नमस्कार। मैं मिस प्रभू को जानती हूं। मेरा भी कुछ ताल्लुक है राजस्थान से, जयपुर से। मिस प्रभु के बारे में आज के संदर्भ में जब मैंने सोचा तो मुझे लगा कि यह तीन शब्द- कला, शिक्षा एवं नागरिकता - उनकी शख्सियत को बहुत साफ तरह बयान करते हैं। मुझे लगा कि उनकी याद में अगर हम लोग मिल रहे हैं तो इन पर ही बात की जाए। मुझे नहीं मालूम कि मेरे अन्दर इस विषय पर साफ तरह से कुछ कहने का कितना माद्दा है लेकिन आज हम इन तीन शब्दों पर बात कर सकते हैं।

मुझे लगता है कि मिस प्रभु, यह तीन शब्द जो आमतौर से एक लगते हैं, इन तीनों को अपने में समेटे हुए थीं। वे एक शिक्षक थीं जो कला एवं मंच से जुड़ी रहीं और उनका मानव अधिकार की लड़ाई से भी गहरा रिश्ता था। एक व्यक्तित्व जो इन तीन चीजों को समेटे हुए था वह आज हमारे लिए एक प्रेरणा का स्रोत तो है ही। मुझे लगता है कि इस तरह के व्यक्तित्व और इन तीन शब्दों पर एक साथ सोचने के लिए आज का दिन ज्यादा खास है। खास इसलिए कह रही हूं कि आज हम एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जहां हमने हर चीज को बहुत बांट दिया है। हमने केवल धर्म को ही नहीं बांटा, हमने हर किसी को खेमे में बांट दिया है। अगर आप लेखक हैं तो आप गायक नहीं हो सकते! अगर आप राजनीति से ताल्लुक रखते हैं तो आप कवि नहीं हो सकते! अगर आप कलाकार हैं तो आप यह नहीं कर सकते! अगर आप शिक्षक हैं तो आप वह नहीं कर सकते! यानी, आज हम बहुत ज्यादा विशेषज्ञता की ओर जा रहे हैं और वह हमें किस तरह से बांट रही है, हमें यह नहीं मालूम कि हम कहां खड़े हैं। मुझे लगता है कि कहीं न कहीं खड़े होने के लिए हमारे पास एक चौखट होनी चाहिए। अपनी एक ऐसी चौखट जो हमें परिभाषित कर सकती है। हम सब कुछ नहीं हो सकते। मुझे लगता है कि आज के समय में यह व्यक्ति और व्यक्तित्व का संकट है कि हम व्यक्ति के गुणों या उसकी खासियत को भी बांटकर देखना चाहते हैं। उसकी समग्रता में आज हमें उतना विश्वास नहीं है।

हमारे यहां जितने भी महत्त्वपूर्ण शिक्षक हुए हैं उन्होंने समग्रता पर जोर दिया है। आज यह ताज्जुब की बात है कि हम सब यह मान रहे हैं कि किसी न किसी एक चीज को पकड़कर, उसे परफैक्ट कर

लेना चाहिए। यहां तक कि हमारे कुछ स्वयंसेवी संगठन भी ऐसे हैं जो खास अभियानों में विशेषज्ञता रखते हैं। फलानी चीज में कोई काम करेगा, फलानी चीज में कोई और काम करेगा। जैसे फलाना डॉक्टर फलाने का होगा। यह मैं आलोचना के लिए नहीं कह रही हूं लेकिन उस नजरिए से कह रही हूं कि आज जो बंटवारा हो रहा है वह चिंता का विषय है। अगर मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में पढ़ाती हूं तो मेरा महिला आंदोलन से क्या ताल्लुक हो सकता या मेरा अरूणा या एम. के. एस. एस. से क्या ताल्लुक हो सकता है; और यह भी कि यह होना आवश्यक है भी की नहीं। इस तरह का नजरिया जब समाज हम पर थोपता है तो मुझे लगता है कि बहुत जरूरी है कि हम फिर से एक समग्र व्यक्तित्व की बात करें। उसकी समग्रता की बात करें और समग्रता ही नहीं उस सोच की बात करें जो अलग-अलग खेमों को पाटते हुए एक धारा की तरह प्रवाह में बह सकती है। इसीलिए मुझे लगता है कि मिस प्रभु को आज याद करना बहुत आवश्यक और प्रासंगिक है। मैंने सोचा कि आज इसके बारे में कुछ चीजें आपके साथ बांट सकूंगी।

आज हर कोई अपने लिए एक चौखट-सा फ्रेम बना लेना चाहता है जिसके बिना वह असुरक्षित महसूस करता है। यह असुरक्षा और जल्दी से कहीं पहुंच जाने की ललक व्यक्ति को इस हद तक बेकरार करती है कि वह दाएं-बाएं नहीं देख पाता। सड़क पर कोई घायल पड़ा है तो पड़ा रहे, किसी के घर से चीखने की आवाज आ रही है तो आती रहे। हम देखकर भी नहीं देखते, सुनकर भी नहीं सुनते। बूझकर भी अनबूझे बने रहते हैं। दूसरे की तकलीफ हमें अपने लिए झंझट लगती है। हम उलझना नहीं चाहते। हमारे पास फुर्सत नहीं है। या हम यह भी आड़ बना लेते हैं कि यह काम हमारा नहीं किसी और का है- पुलिस, कल्याणकारी एनजीओ या कोई और। यह उनका काम है और हमारा सरोकार उनका काम बिगाड़ सकता है, इसलिए हमें अपना काम करना चाहिए, उसे और अच्छा करना चाहिए ताकि हम छोटी चौखट से बड़ी चौखट तक पहुंच पाएं। इस चौखट का फ्रेम हम छोड़ते नहीं, यहां तक कि कभी-कभी लगता है कि हर कोई अपनी चौखट लिए हुए ही घूम रहा है। रीढ़ की हड्डी उसी पंख के फ्रेम में बंधी है, उसमें न लचीलापन रह गया है, न मुक्त होने की अभिलाषा। हमारा पोस्चर हमारे इस फ्रेम में फिट होने की कहानी कहता है। हमारी आंखें भी एक ही लक्ष्य पर स्थिर, पथरा गई हैं। हमें आस-पास का आभास नहीं। यहां तक कि बहुत पढ़ा-लिखा शख्स फर्स्ट एड के बारे में शायद ही कुछ जानता हो। न ही उसे मालूम होगा कि एफआईआर कैसे फाइल की जाती है। उसे अपने बुनियादी अधिकार भी कोई विशेषज्ञ ही बताए तो बताए कभी। जीवन का साधारण, सहज प्रवाह हमारे लिए समस्या बन गया है, क्योंकि उसमें कुछ देर के लिए अपनी चौखट से बाहर आना होता है - और वह हमें कठिन लगता है। ''प्रेस क्लब'', ''डिफेंस क्लब'', डॉक्टर्स क्लब'' जहां एक-से फ्रेम जुट सकते हैं, एक-सी बातें कर सकते हैं। लॉबी बनाकर कुछ कह सकते हैं, कर सकते हैं। पर इसके चलते उसके बाहर वाले सब अलग हो जाते हैं। वे अपनी जानें और अपनी करें। जो जितना कमजोर वह उतना ही हमारी नजर से दूर- उतना ही हमारे सरोकार का कम पात्र। इसलिए हम कला से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि कलाकार को हम हेय दृष्टि से देखते हैं। हमने उसे कभी इज्जत नहीं दी, क्योंकि अक्सर वह दलित भी था। सो उसके गुण, उसकी क्षमता को भी हमने अपने से दूर कर दिया और अपने से खो दिया। शिक्षित होकर हम अपनी चौखट में सिकुड़ गए। हमारी समग्रता को इससे विस्तार नहीं मिल पाया।

लेखक

त्रिपुरारी शर्मा

दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातक करने के बाद नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा, दिल्ली से डिप्लोमा किया। बहुत से नाटकों का लेखन एवं निर्देशन किया है। फिलहाल नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में अभिनय की प्रोफेसर हैं।

ये विभाजन, ये बंटवारा कई बार हमें अपनी एक खास शख्सियत में जब ले जाता है तो हमें शख्सियत की दूसरी किसी चीज को करने से रोक देता है। ये हमारी ही संभावना को कहीं न कहीं बांट देता है, बाधित कर देता है। हर व्यक्ति की अपनी जो संभावना है वह आवश्यक नहीं कि एक ही दिशा में हो। वह कई दिशाओं में हो सकती है। शिक्षा को इस बहु-आयामी प्रतिभा को निखारना चाहिए लेकिन वह भी विशेषता की दिशा में ले जाने की ओर प्रवृत्त है। मैं केरल का एक उदाहरण देती हूं, मदद मीरा पर, उन्होंने बार-बार यह कहा कि विशेषज्ञता नहीं होनी चाहिए। विशेषज्ञता से मतलब यही है कि आप जो भी करेंगे वह सही ही करेंगे। यह सोच लेना कि हम एक ही काम कर रहे हैं, वह बेहतर ही होगा, मुझे यह भी लगता है कि

मुगालता ही है। क्योंकि अगर नियत सही नहीं है, अगर हमारे नेकी नहीं है तो हम एक ही चीज को रटते रहें तो भी इससे महारत हासिल नहीं होगी।

जबकि अगर हमारे दरवाजे खुले हों और हम जिन्दगी जी पा रहे हों तो हमारे हुनर को, अपने को तराशने के और कितने मौके मिल पाएंगे। सीने-पिरोने को आसान करने के लिए सिलाई मशीन का ईजाद हुआ। अंधेरा कम करने के लिए डिबरी, चिराग, फानूस, बल्ब आया। श्रम को सहनीय बनाने के लिए गीत रचे गए। एक-दूसरे को याद रखने के लिए किस्से गढ़े गए। यह सब बिना काबलियत, बिना हुनर के तो हुआ नहीं। जड़ी-बूटी से लेकर दर दवा, दर अस्पताल, राहत और जिन्दगी की तलाश है। अगर हममें करुणा है, कल्पना है तो अवलोकन और सिद्धान्तों की समझ को हम और बेहतर अर्थ दे पाएंगे। तब हमारे अरमान होंगे। और यदि वह है तो हमारे जीवन में, हमारे संबंधों में और शायद हमारी हर चीज में झलक पाएगा। इसीलिए केवल एक ही ढर्रे से बंधना आवश्यक नहीं है। यह हमारा जो आदान-प्रदान है वह एक-दूसरे में हमारी संवेदना से ही बन पाता है और आज हम संवेदना की बात कम करते हैं। हमें जो भौतिक रूप में हासिल होता है उसकी बात ज्यादा करते हैं। जमाना ही कुछ ऐसा है। हमारा और आपका व्यक्तिगत व्यवहार नहीं बदला है, यह हमारे ऊपर बस कुछ ऐसी पाबंदियां लगा रहा है कि शायद हम कुछ-कुछ ऐसे होते जा रहे हैं। जिस स्रोत और जिस संवेदना से व्यक्ति बह सकता है; वह सोच, वह संभावना हमेशा किसी न किसी व्यवस्था से द्वारा संचालित की जाती रही है। और व्यवस्था कैसे उसके साथ व्यवहार करती है, यह निर्भर करता है कि उससे हमें अपने लिए कितना और क्या चाहिए। यह एक सामाजिक मसला है, व्यक्तिगत नहीं।

जो समाज आज कला को अपने मुख्य दायरे से बाहर रखता है, यह वही समाज है जो मानव अधिकार का भी हनन कर रहा है। यह वही व्यवस्था है जो कला के लिए जगह नहीं बनाती और यह वही व्यवस्था है जो गरीब का निरादर करती है। यानी, यहां नागरिकता के बुनियादी मूल्यों का हनन हो रहा है, वहीं पर कला की अवहेलना हो रही है। ये दोनों चीजें साथ-साथ समानान्तर चल रही हैं, तो जरूर इसमें कहीं न कहीं कोई ताल्लुक होगा ही। इसका संबंध कहीं न कहीं एक-दूसरे से होगा। यानी, कला का कम होना नागरिकता के मूल्यों का विघटन होना है। यह कहीं न कहीं हमारे जीवन, हमारे व्यवहार, हमारी परवरिश या हमारी शिक्षा से जुड़ा होगा ही। ऐसा नहीं हो सकता है कि यह अपने-आपसे अनायास ही या अचानक ही हो गया है।

मैं यह तो नहीं कहूंगी कि यह जान-बूझकर किया गया है लेकिन अगर हम गौर से देखें तो यह काफी बड़े पैमाने पर हो रहा है। हमारी परवरिश, जिसमें हमारी शिक्षा का बहुत बड़ा योगदान है और शिक्षा, मैं व्यवस्थित शिक्षा की बात कर रही हूं, का भी बड़ा योगदान है। हम घर से सीखते हैं और शिक्षा ग्रहण करते हैं। यह हमारे अपने सीखने की एक ताकत है लेकिन एक व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली से जब हम गुजरते हैं, हममें से बहुत लोग गुजरे हैं, खास तौर पर हम सब जो यहां मौजूद हैं, शायद सभी उससे गुजरे हैं। यह शिक्षा प्रणाली बढ़ रही है, विकसित हो रही है और बहुत कुछ हो रहा है। हम शिक्षा की बात करते हैं, उच्च शिक्षा की बात करते हैं। शिक्षा में विशेषज्ञता की बात करते हैं। काबलियत और हुनर की बात करते हैं लेकिन इस हुनर से, काबलियत से समाज को क्या हासिल हुआ? हम आज ऐसे बड़े से बड़े इंजीनियर बनाते हैं जो ऐसे फ्लाई ओवर बनाते हैं जो ढह जाते हैं, लोग मर जाते हैं। हम ऐसे बढ़िया से बढ़िया डॉक्टर तैयार करते हैं जिन पर भ्रूण हत्या का आरोप सरेआम लगता है। हम ऐसे अध्यापक तैयार करते हैं जो बच्चों की संभावना में ही विश्वास नहीं करते। हम ऐसी सेना तैयार करते हैं जो हमारे ही लोगों को मार देती है। हम ऐसी पुलिस और पुलिस अफसर तैयार करते हैं जिन्हें यह नहीं मालूम कि कानून तोड़ना क्या होता है, कानून किसके लिए है। यानी, हमने एक इतनी बड़ी व्यवस्था खड़ी की है, हमने इतने सारे लोग खड़े किए हैं, हमने उन पर इतना कुछ खर्च किया, इतनी मेहनत की है; उनको तैयार किया और उनके हवाले हमने जिस निर्माण और रचना का काम दिया उन्होंने ठीक उसके विपरीत किया। यानी, हमने जो कुछ भी किया वह किसके लिए किया,

क्यों किया? हमारी शिक्षा बहुत कम लोगों को जो इससे गुजरे, उनको यह समझा पाई है। या उनमें वह संवेदना जगा पाई कि वह क्या करने के लिए है और उनकी जिम्मेदारी या जवाबदेही कहां है! एक इतना बड़ा वर्ग उससे अपरिचित लगता है या उसके पास उतना विवेक नहीं है या हमारी शिक्षा उन्हें यह विवेक नहीं दे पाई कि यह सब है क्या?

संविधान का मूल कहां है? शिक्षा प्रणाली में उसके सिद्धान्त और उनके अधिकार क्यों नहीं हैं? इसे अनावश्यक क्यों समझा गया? नौकरी-पेशा होने को क्यों मानवाधिकार और मानव विस्तार से बड़ा मान लिया गया? एक छोटा-सा प्रश्न जिसका उत्तर इस पूरे वर्ग के पास शायद नहीं है और मुझे लगता है कि जिस शिक्षा में नागरिकता के मूल्य कहीं न कहीं जोर देकर नहीं डाले गए, उस शिक्षा प्रणाली में कला भी लगभग गौण ही है। यानी, हमारी मुख्य कक्षाओं, हमारे मुख्य समय में कला का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि हमारा जोर स्कूली शिक्षा तक, नम्बर लाने और उसके बाद काम पाने पर है। यानी, रिजल्ट। यानी, हमारा जोर कुछ हासिल करके दिखाने पर बनता जा रहा है।

हमारे छात्र, हमारे बच्चे स्कूल में होते हैं तो इम्तहानों के डर से नहीं सोते। जब नौकरी लग जाती है तो नौकरी के लक्ष्यों को पूरा करने के डर से नहीं सोते और जब नौकरी नहीं होती तो नौकरी पाने के डर से नहीं सो रहे होते; तो हम उनको इसी तैयारी में, इसी चीज के लिए शायद तैयार कर रहे हैं कि वे किस तरह हमेशा लकीर पर रहें, बिलकुल किनारे पर रहें कि उन्हें लगे कि वे अब गिरे, अब गिरे और अब गिरे। और उसके आगे वे नहीं बढ़ पाते। मुझे लगता है कि यह जो हासिल करना है, यह ताकत को हासिल करना है। यानी, उस तरह की ताकत जो हम हासिल करते हैं वह हमें ताकत देती है।

नागरिकता इस प्रतिद्वंद्वता के विपरीत है। वह हमें एक-दूसरे से लड़ना नहीं, एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदार होना सिखलाती है। उसकी बुनियाद में व्यक्तिगत हित से बड़ा सामाजिक सरोकार है। एक-दूसरे को जगह देना, न कि धक्का देकर आगे बढ़ना। यह धक्कामार संस्कृति नागरिकता का हनन और अवहेलना करती है।

कला अपने स्वरूप से ही कहीं न कहीं ताकत का विरोध करती है। वह ताकत के पक्ष में शायद नहीं होती। उसका स्वभाव ही कुछ ऐसा है। और कला चाहे वह रंग के साथ हो, चाहे वह अभिनय के साथ हो, चाहे वह खेल के साथ हो; वह हमेशा अपने से वाकिफ कराती है, जैसे नितांत अपने साथ होते हैं और जो तात्कालिक ताकतें हमें थोड़ा परे ले जाती हैं उनसे बचे रहते हैं। यों तो हम कह सकते हैं कि सब कुछ मेरा है वह मैं हूं। लेकिन व्यक्ति एक इकाई नहीं होता। उसके भीतर कई इकाइयां होती हैं और हमारा एक आत्म (सेल्फ) भी है जो बाहर की ताकत में खुश हो सकता है लेकिन एक भीतर का भी है जो तात्कालिकता से आगे जाने की क्षमता रखता है। और कला एक ऐसा माध्यम है, कला वह क्षण है जो हमें अपने उस हिस्से से अवगत कराती है और कला के माध्यम से हमारा अपना उद्दार होता है। इसीलिए शायद यह तो हम देख ही रहे थे कि नाटक का शिक्षा के साथ जुड़ना कोई आज की बात नहीं है। क्योंकि वह व्यक्ति के साथ और व्यक्ति की खूबसूरती के साथ और व्यक्ति की अपनी संरचना के साथ जुड़ी हुई है। इसीलिए उसको जोड़ा गया है। क्योंकि जब आप अपने से बाहर निकलते हैं, अपने से बाहर झांक पाते हैं; तब आप किसी दूसरे के दायरे को भी समझ पाते हैं। जब आप अभिनय करते हैं तो आप दूसरे का जीवन जीते हैं, अपना नहीं जीते। आप कई बार ऐसे चरित्र को खेलते हैं जिससे आप बिलकुल सहमत नहीं हैं। लेकिन उसको खेलते समय, उसको करते समय आप कुछ और समझते हैं जो आपसे बहुत भिन्न है। अपने से कुछ भी समझना उससे सहानुभूति रखना है। यह जीवन जीने का एक बहुत बड़ा गुण है। क्योंकि जब हम अपने से बाहर देख पाते हैं तो अनजानेपन का भय खत्म होता है।

यह जरूरी नहीं है कि किसी चीज को जानने से ही मैं उसके लिए कुछ कर सकता हूं या कर सकती हूं। लेकिन बिना जाने हुए ही अगर सहानुभूति है तो उससे जुड़ने की क्षमता मुझमें बन जाती है तो मैं तब भी उसके साथ जुड़ सकती हूं। यानी, आज अगर देश में या कहीं भी कुछ होता है जो सही नहीं है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह मेरे जीवन का हिस्सा हो, तब ही मैं उसके लिए कुछ कहूं या कुछ करूं। किसी दूसरे से जुड़ने की, किसी दूसरे के हालात को अपने हालात से तौलने की जो क्षमता है, यह कला हमें देती है और रंगमंच तो देता ही है। अभिनय करना तो देता ही है। जब हम खुद यह कर रहे होते हैं तब भी होता है और जब किसी दूसरे की कृति को समझते हैं तब भी होता है। जब हम खुद से रचते हैं तो हमारी अभिव्यक्ति शामिल होती है और हम अपने-आपको व्यक्त करना सीखते हैं। यह किसी के लिए भी, स्त्री हो या पुरुष हो या किसी भी समुदाय से कोई भी हो, उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि मेरे भीतर क्या छिपा हुआ है, कि मैं वही नहीं हूं जो बाहर से ग्रहण कर रहा हूं, कि जो मैं किताब में पढ़ रहा हूं या किताब में पढ़ रही हूं या जो लोग मुझसे कहते हैं या मुझसे कहा जाता है, सुनती हूं या मुझे सुनाया जाता है। उस सबसे आगे, परे भी मैं हूं और उससे अवगत होना मुझे जीवन के लिए एक नया संदर्भ देता है। उसी तरह मैं किसी और की कृति से जुड़ती हूं, किसी और की लिखी हुई पंक्ति को गुनगुनाती हूं या किसी और के गढ़े हुए चरित्र को खेलती हूं तो अपने से बाहर आने का मौका मुझे मिलता है। अपनी सीमाओं से परे जाने का मौका मिलता है, अपनी सीमाओं में बंधे रहने या अपनी घुटन से बाहर आने का मौका मुझे मिलता है। ऐसा अनुभव हमें कला देती है, कलात्मक प्रक्रिया से गुजरने का अनुभव हमें देता है; यह हमें बेहतर व्यक्ति भी बनाता है, एक जिम्मेदार नागरिक बनाता है। क्योंकि तब हमारे अन्दर नागरिकता के बहुत से पहलू घर कर जाते हैं। यह केवल तर्क की बात नहीं है। क्योंकि तर्क तो धोखा भी दे सकता है। तर्क तो बुद्धि का खेल है, वह हमें किसी भी दिशा में ले जा सकता है। वह हमें अपने स्वार्थ को सही ठहराने का मौका भी दे सकता है। केवल तर्क के भरोसे जिन्दगी नहीं चल सकती। संवेदना बहुत आवश्यक है और संवेदना इन सभी पहलुओं में हमें ले जाने के लिए, हमें होने के लिए और हमें बाहर ले जाने के लिए है।

जब हम कला के साथ अपने-आपको बहने देते हैं, अपने साथ होने देते हैं तो शायद सोच सकते हैं कि वह पानी है या हवा है जो बह सकती है, रुक सकती है। वह हमें केवल पत्थर की तरह अटका हुआ नहीं छोड़ती। वह हमारे अन्दर सामर्थ्य पैदा कर सकती है जो अपने-आपको कई बार परिभाषित कर लेते हैं और उस पर खड़े हो जाते हैं, अडिग से हो जाते हैं और सोचते हैं कि यही मेरा व्यक्तित्व है या मैं से बाहर आने का मौका हमें मिलता है। और यह क्षमता भी अभ्यास से बढ़ती है। यह कहना कि यह क्षमता किसी में है और किसी में नहीं है, यह शायद पूरी तरह सही नहीं है। क्योंकि हर क्षमता की तरह यह क्षमता भी अभ्यास से बढ़ सकती है। अवलोकन की क्षमता अभ्यास से बढ़ती है, हमारे अंग, हमारे शरीर का लचीलापन अभ्यास से बढ़ता है तो बाकी चीजें क्यों नहीं। बाकी क्षमताएं भी अभ्यास से बढ़ सकती हैं। अगर हम उसको अवसर दें और अभ्यास को निरंतर अपने जीवन में अपनी शिक्षा में आने दें तो यह जीवन का अभ्यास बन सकता है। पर कई बार यह अभ्यास का मौका हमारी शिक्षा हमें नहीं देती है। हमारी शिक्षा प्रणाली में है ही नहीं। शायद यह कहना बेहतर होगा कि हमारी शिक्षा वह मौका ही नहीं देती। लेकिन शिक्षा में इसके लिए जगह बनाना आवश्यक है। यह बहुत दिलचस्प बात है कि जिन्होंने भी हमारे भारत की शिक्षा को पुनर्भाषित करने की कोशिश की चाहे वे गिजुभाई हों, चाहे वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर हों, चाहे अरविन्द हों; उन सबने सबसे पहले बात की है बच्चे के सीखे हुए को अन-सीखा करने की। उन्होंने सीखने को और बेहतर बनाने की बात नहीं की। उनका पहला ही लक्ष्य रहा है कि पहले कक्षा-कक्ष को ध्वस्त किया जाए और उनकी दो मुख्य चीजें रहीं जो बाकी विचारकों से बहुत हद तक भिन्न हैं। एक, प्रकृति के पास जाना जिसमें शिक्षा है और दूसरा कला और कला के अभ्यास को निरंतर बनाए रखना। इन सब पर कई तरह के मतभेद भी हैं पर यह अब सोचने लायक युक्ति तो है, सोचने लायक प्रश्न तो है कि उन लोगों ने इनको इतना महत्त्व क्यों दिया है और क्यों उन्होंने इस तरह की प्रणालियां बनाने की कोशिश की जिसमें इन दोनों चीजों का सबसे प्रमुख स्थान रहा।

मुझे लगता है कि यह प्रश्न थोड़ा और बड़ा हो जाता है कि जो कलात्मक पक्ष है और जब वह हमसे छूट जाता है, तो उससे जो अधूरापन आता है वह हमें किसी तरह के जंजाल में मार गिरा देता है। दूसरी बात यह है कि हमें खास किस्म की सोच से भी अलग कर देती है क्योंकि जब-जब आप किसी भी कलात्मक प्रक्रिया से गुजरते हैं आप खाली मोमबत्ती के सामने छत पार कुछ नया स्वप्न देखते हैं। आपको स्वप्न देखने की आदत तो पड़ती है, आपको सपनों को साकार करने की आदत भी पड़ती है। क्योंकि आप उनका एक चित्र धीरे-धीरे बनाते हैं। आप नाटक करते हैं तो भी यही होता है। आप गाते हैं तो भी यही होता है। यानी, आत्म (सेल्फ) को संबोधित करने के साथ-साथ आप यह करते हैं। रचना और संरचना दोनों ही इसमें साथ-साथ चलते हैं। यह एक योग्यता बनती है जबकि आप कोई कथा लिखते हैं आप कुछ भी लिखते हैं, कुछ भी करते हैं। उसमें रचना के साथ संरचना भी चलती रहती है। यह नहीं कि संरचना नहीं होती। और अगर आज देखें कि हम आज एप्टीट्यूड करने की बात करते हैं। हमें लगता है कि हमारा काम शिक्षा का है, हमें जो काम दिया गया है उसे पूरा करना है। इसका कारण यही है कि कई बार हम कला को केवल दिखावा मान लेते हैं। हम केवल उसको दिखाने की चीज मान लेते हैं। हम उसे फ्रेम से जुड़ने का माध्यम मान लेते हैं तो या तो उससे बचते हैं या उसको केवल दिखाने के लिए और फिर वही गलती कर देते हैं कि हम दूसरे की नजर से स्वयं आंकने लगते हैं। हम अपनी नजर से अपने को आंकना भूल जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि वह दिखाने की वस्तु बन जाती है, ये भी स्कूल के बाद जब कॉलेज में शुरू हो जाता है तो एक और खतरा पैदा होता है कि वह अपना एक व्यवसाय बना लेती है। वह जब व्यवसाय बना लेती है तो हम कला के केवल उपभोक्ता बन जाते हैं। हम अपने से रचना नहीं करते हैं। हमें रेडियो पर गाना बना बनाया मिलता है, हम उसी के साथ गुनगुनाने लगते हैं। हम टीवी खोलकर एक-दूसरे की संरचना में, एक-दूसरे की संदर्भ में अपने-आपको जोड़ लेते हैं। स्वयं से रचना, स्वयं से बनाना हमसे छूट जाता है। यह बड़ी अजीब बात है जब हम अभाव में होते हैं तब हम कल्पना के सहारे और कला के सहारे जीवन जीते हैं। चाहे वह माण्डने बनाना है, चाहे वह मशाल बनाना है, चाहे वह कठपुतली से कुछ करना है। अभाव में हम इन सब चीजों के सहारे ही अपने-आपको शायद जीवित रख पाते हैं। और ज्यों ही हमारे पास साधन आते हैं, हम अपनी इस कलात्मकता को छोड़कर किसी दूसरे की बनाई हुई चीज के सहारे या किसी दूसरे की रचना को गुणने की कोशिश करते हैं और उसी से संतुष्ट हो जाते हैं और उसी को पर्याप्त मान लेते हैं। ये थोड़ा-सा खतरनाक है क्योंकि हमें हाथ पर हाथ धरे केवल देखने की आदत पड़ जाती है। खुद से करने की आदत हमसे छूट जाती है और ये हमारे लिए थोड़ा-सा खतरा भी हो सकता है। हम अपने तरीके से और अपने साधनों से रचने की क्षमता को खोने लगते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि हम खुद कम रचते हैं खासतौर से जब वर्किंग क्लास में पहुंच जाते हैं और हमारे पास साधन बहुत होते हैं तो जो लोग हाथ से काम करते हैं, जो लोग शरीर से काम करते हैं उनको हम दूसरी ही नजर से देखते हैं। यह संभव है कि यह हमारे सामंती इतिहास की देन हो। आज हम कलाकार और गरीब व्यक्ति का निरादर भी करते हैं। यानी, हम कुछ चीजों को मूल्य नहीं देते, इज्जत नहीं देते जो उनको मिलनी चाहिए, जो उसके हकदार भी हैं। लेकिन क्योंकि हम उससे अपने-आपको हटा लेते हैं, हम उसे नहीं देते हैं। उसमें हम भी खोते हैं और वे भी खोते हैं।

हमारे देश में बहुत प्रतिभा है, बहुत काबलियत है। इतनी है कि वह धूल की तरह है। धूल को अगर हम पानी दे दें तो वह बैठ जाएगी और उसमें कुछ उग जाएगा। लेकिन अगर हम उसको उड़ने दें तो वह उड़ जाएगी। तो मुझे लगता है कि जो समाज अपनी प्रतिभा, अपनी काबलियत को पूरी इज्जत नहीं दे सकता, उसे पूरी जगह नहीं दे सकता; वह उससे पूरा फायदा नहीं ले सकता। अपनी परवरिश में, अपनी शिक्षा में, अपने नागरिक तैयार करने में, हर किसी से संवेदना बनाए रखने में, बढ़ाए रखने में तो वह अपना ही नुकसान करता है और जब हम इन चीजों को कला की चीज या उनको जब चीज बना देते हैं या उस तरह प्रदर्शन

करते हैं तो हम वही करते हैं जब हम फूल का गुलदस्ता बनाते हैं। क्योंकि जब फूल गुलदस्ते में बनकर आ जाता है तब वह खूबसूरत तो बहुत होता है लेकिन जीवन्त नहीं रहता और मुझे लगता है कि कला को भी जब हम जीवन से अलग मानने लगते हैं, अपने-आपसे अलग मानने लगते हैं तो उसके साथ भी कुछ ऐसा ही होता है कि वह एक बहुत खूबसूरत गुलदस्ता बनकर रह जाती है जो कि ऊपरी सतह तक तो पहुंच पाता है लेकिन जड़ से कट जाता है। इसलिए वह फिर बहुत देर तक जीवित नहीं रह पाता है। तो इसलिए नुकसान हम कला का भी करते हैं, अपना भी करते हैं और अपनी मिट्टी का भी करते हैं। ये जो रवैया है, जो इस चीज को महत्त्व नहीं देता वही रवैया है जो कहीं न कहीं इन दोनों में कुछ तो जुड़ाव होगा तभी तो ये दोनों एक साथ हमारे बीच में हमारे साथ, हमारे भीतर चलते हैं। और मुझे लगता है ये हमारे भीतर से कटने या बाहर होने में हमारी परवरिश की बहुत बड़ी भूमिका है। हमारी परवरिश को यह भूमिका निभानी चाहिए और जो इन तीनों को भिन्न-भिन्न न करके किन्तु एक साथ हम रख पाएं। उस संवेदना के जरिए जो कला में भी बह सकती है, जो अभिव्यक्ति भी बन सकती है। अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष भी कर सकती है और जो नई आने वाली पीढ़ी को इस तरह की शिक्षा भी दे सकती है कि जीवन से जो संबंध है वह बना रहे और वह हमसे छूट न जाए।

क्योंकि जब ये हमसे छूट जाती है, हमसे टूट जाती है तो हम बहुत दुखी और नीरस जीवन जीने लगते हैं। ये विशेष जीवन नहीं है जिसमें यह सब कुछ, यह जीवन का बीज है जो शायद इन तीनों को कभी भिन्न से नहीं देखना चाहता। लेकिन यह विभाजन कई बार ऊपरी होता है। ऐसा भी है कि एक ऊपरी सतह है जिसमें ये चीजें अलग-अलग रखी रहती हैं। ये ऊपरी सतह हम सबकी है। और क्योंकि इस सतह में जब हम अपने से बाहर नहीं झांक पाते हैं तो हम बहुत सारे लोगों को, बहुत ज्यादा लोगों को अपने से अलग करते हैं और हम तय कर लेते हैं कि हमें उनसे कुछ लेना देना नहीं है। क्योंकि वे हमसे भिन्न हैं और वे हमारे संदर्भ में नहीं आते हैं। ये बहुत खतरनाक है क्योंकि तब ऊपरी सतह में सब कुछ उसी तरह अलग-अलग खड़ा रहता है। भले ही वह कला हो, भले ही वह हमारी उच्च शिक्षा हो, भले ही वह कई बार आंदोलन हो। कभी-कभी वे ऐसे हो जाते हैं कि वे ऊपरी सतह में अपनी प्रासंगिकता बनाने के लिए वहीं पर अटक जाते हैं क्योंकि हमें लगता है कि वे निर्णय तो आखिर इस ऊपरी सतह में ही होने हैं। पहचान तो आखिर इस ऊपरी सतह में ही होनी है और उस ऊपरी सतह में परेशानी यह है कि वह ऊपरी सतह केवल अपनी ही भाषा समझती है वह दूसरों की भाषा समझने में दिलचस्पी नहीं रखती। और कई बार उसमें अपने-आपको प्रासंगिक बनाने के लिए हम शायद अपनी बहुत-सी मौलिक और अपनी बहुत आवश्यक चीजों, मूल्यों से जो कि हमारे लिए बहुत बुनियादी हैं, उनसे पिछड़ जाते हैं और मुझे लगता है कि आज यह भी एक प्रश्न है कि प्रासंगिक किसके लिए? केवल एक ऊपरी सतह में प्रासंगिक बना रहना क्या केवल तात्कालिकता नहीं है? यह वही तात्कालिकता है जिसमें अगर आपको आज परीक्षा देनी है तो उसमें बेहतर नम्बर आ जाने चाहिएं। इसमें लम्बे समय तक जीवित रहने वाली क्या चीज है? लम्बे समय तक आगे जाने वाले वह क्या मूल्य हैं, वह क्या व्यक्तित्व हैं जो आज की तारीख के आगे हमारे जीवन को ले जा सकते हैं? शायद जीवन को उस तरह ले जा सकें कि उसको कभी याद किया जाए और उसमें याद करने लायक कुछ हो। मिस प्रभू एक ऐसा ही व्यक्तित्व हैं जिन्हें याद किया जाता रहेगा। ◆